दैनिक जागरण

Date: 22-11-17

नैतिकता के समक्ष बढ़ते संकट

डॉ. विजय अग्रवाल | लेखक भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व अधिकारी एवं स्तंभकार हैं |

पिछले दिनों चेन्नई में भारतीय पुलिस सेवा के एक युवा अधिकारी द्वारा आइएएस बनने की चाह में दी जाने वाली परीक्षा में ब्लू टूथ के जरिये नकल करते हुए पकड़े जाने का मामला सामने आया। यह नकल उनकी पत्नी करा रही थीं। नकल करते पकड़े जाने के बाद करीम बर्खास्त भी किए जा सकते हैं। उनके हश्र पर आश्चर्य, दुख और शोक करना वस्तुत: हमारे आज के सामाजिक सत्य को कम, सामूहिक छलावे को अधिक व्यक्त करता है। इस घटना के बाद जो सवाल उठाए जा रहे हैं वे सतही किस्म के ज्यादा हैं और काफी कुछ एकांगी भी। उदाहरण के तौर पर-संघ लोक सेवा आयोग यानी यूपीएससी कैसे-कैसे लोगों का चयन कर रही है? प्रशिक्षण संस्थान किस तरह का प्रशिक्षण दे रहे हैं? इस अधिकारी को 'नैतिकता' के परीक्षण वाले पेपर में काफी अच्छे (250 में से 108) नंबर मिले थे। इसे इतने नंबर कैसे मिल गए? इंटरव्यू में भी उसे 275 में 178 मिले, जो ठीक-ठाक ही हैं। तो फिर इंटरव्यू में उसमें क्या देखा गया? आदि-आदि। सच पूछिए तो इस तरह के प्रश्नों में सामाजिक दायित्वों से बचने की साफ-साफ चालाकी दिखाई देती है। ऐसा इसलिए भी कि हम संपूर्ण संदर्भ से अनजान बन रहे हैं। मुझे लगता है कि इस घटना के यथार्थवादी विश्लेषण के लिए कुछ ऐसे अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों को जानना बेहद जरूरी है।

पुलिस अधिकारी सरीफ करीम मुख्यत: इलेक्ट्रीकल इंजीनियर हैं। कैट की परीक्षा में उनके टॉप पर्सेंटाइल थे। और वह आइआइएम के किसी भी संस्थान में दाखिला लेकर एमबीए कर किसी भी बहुराष्ट्रीय कंपनी में अच्छा-खासा पैकेज हासिल कर सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा न करके आइएएस में जाने का फैसला किया। यहां सवाल उठता है कि क्यों? जैसा कि हर कोई इंटरव्यू में लगभग यही कहता है, 'क्योंकि वह समाज और देश के लिए कुछ करना चाहता है।' यह रटा-रटाया वह मशीनीकृत उत्तर है जिसे सुनकर यूपीएससी के परीक्षक हल्का सा मुस्करा देते हैं। इसकी सच्चाई क्या है? दरअसल सच्चाई इसके एकदम परे है। आप ऐसे चयनित उम्मीदवारों से व्यक्तिगत तौर पर बात कीजिए तो सुनकर चौंक जाएंगे। वे अपने इस चयन को राष्ट्र पर उनके द्वारा किए गए एक अहसान के रूप में बताते हैं। उनके अवचेतन में यह तथ्य अच्छी तरह घर कर गया होता है कि उन्हें देश-विदेश में लाखों-करोड़ों के पैकेज मिल सकते थे। उनके साथियों को मिल भी रहे हैं। अब सवाल उठता है कि तो क्या वे यहां आर्थिक नुकसान के लिए आए हैं?आज जिस तरह पूंजीवादी व्यवस्था धीरे-धीरे अपने विषैले फनों का फैलाव करके हमारे युवाओं की चेतना को विषाक्त करती जा रही है उस चेतना से ऐसे विचारों का जन्म लेना बहुत अस्वाभाविक जान नहीं पड़ता। सिविल सेवा परीक्षा के तहत 25 सेवाओं के लिए भर्तियां होती हैं। उनमें आइएएस की प्राथमिकता सर्वोच्च होती है। दूसरे और तीसरे स्थान पर होते हैं-इनकम टैक्स और कस्टम-एक्साइज सर्विस यानी आइआरएस। इन सेवाओं में जाने के लिए उम्मीदवारों की शैक्षणिक पृष्ठभूमि का कोई भी हाथ नहीं होता। पिछले कुछ वर्षों से इस परीक्षा में सफल होने वाले युवाओं में प्रोफेशनल लोगों की संख्या में बहुत अधिक बढ़ोतरी हुई है। ये वे प्रोफेशनल्स होते हैं जो या तो अच्छी नौकरियों में होते हैं या जिनके पास अच्छे विकल्प मौजूद होते हैं। जब हम ऐसी सेवाओं में नैतिकता के प्रश्न पर विचार कर रहे

होते हैं तब ऐसे सह-संबंधों का भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाना चाहिए। सोचा जाना चाहिए कि रेवेन्यू सर्विस को इतनी अधिक प्राथमिकता क्यों मिल रही है? और भारतीय विदेश सेवा प्राथमिकता में क्यों इतनी नीचे जाती जा रही है जिसमें जाने के लिए पहले शुरू के दस रैंक में आना जरूरी था। साथ ही यह भी कि आखिर आइएएस में ऐसा क्या कुछ विशिष्ट है, जबकि कलक्टरी (जिसके नाम से यह सेवा जानी जाती है) तो कुल दो-तीन साल ही रहती है?'सैंया भये कोतवाल तो अब डर काहे का' वाली कहावत पुरानी भले ही हो, लेकिन रक्तबीज दानव की तरह वह नए-नए रूपों में प्रकट होती जा रही है। एक बहुत बड़ा नैतिक एवं प्रशासकीय प्रश्न यह भी है कि आखिर कोतवाल डरे भी तो किससे? एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में वास्तविक शक्ति जनप्रतिनिधियों के हाथ में होती है। क्या हमारे ये प्रतिनिधि कार्यपालिका के मन में नैतिक आदर्शों के मापदंड अथवा कानून का भय पैदा करने में सक्षम रहे हैं? मुख्यमंत्रियों एवं मंत्रियों के यहां पड़ने वाले छापों ने दरअसल आदर्शों और कानून के भय को तार-तार कर दिया है। अनेक अध्ययन और रिपोर्ट बताती हैं कि किस प्रकार इन दोनों के बीच एक गुप्त दुरभिसंधि हो चुकी है। ऐसे में आप किस प्रकार की नैतिकता की उम्मीद करना चाह रहे हैं?

हालात तो यहां तक बदतर हो चुके हैं कि माता-पिता अपने बच्चों को यह सोचकर नैतिकता और ईमानदारी का पाठ पढ़ाने से बचने लगे हैं कि 'कहीं ऐसा न हो कि यह किसी काम का ही न रहे।'सरीफ करीम का मसला सिविल सेवा के डेढ़ सौ साल से भी अधिक लंबे इतिहास में घटित होने वाली पहली घटना नहीं है। यह अन्य-अन्य रूपों में पहले भी घटित होती रही हैं। हां, इतना अवश्य है, जो एक बड़ी बात भी है कि पहले जहां ये सब अपवाद के रूप में होते थे, वहीं अब ये आम होते जा रहे हैं, जो बेहद चिंताजनक है। नवीनतम आंकड़ों के अनुसार पिछले एक साल में लगभग 500 आइएएस और लगभग 300 आइपीएस अफसरों के खिलाफ शिकायतें मिली हैं। शिकायतों की यह संख्या उसके पिछले साल से अधिक है, लेकिन इसका सटीक समाधान भर्ती करने और प्रशिक्षण देने वाली संस्थाओं के पास नहीं है। वे उन्हीं में से बेहतर को चुनने को मजबूर हैं जो समाज उनके पास भेजता है। जाहिर है कि इसके लिए समाज को खुद को टटोलना होगा। इस बारे में मैं इसी वर्ष अक्टूबर में सिविल सेवा की मुख्य परीक्षा के 'नैतिकता परीक्षण' वाले पेपर में पूछे गए एक प्रश्न को यहां उद्धृत करना चाहूंगा। प्रश्न है-'मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि किसी राष्ट्र को भ्रष्टाचार मुक्त और सुंदर मनों (माइंड) वाला बनाना है तो उसमें समाज के तीन प्रमुख लोग अंतर ला सकते हैं-पिता, माता एवं शिक्षक-एपीजे अब्दुल कलाम। क्या हम यह परिवर्तन लाने के लिए तैयार हैं?

THE TIMES OF INDIA

Date: 22-11-17

Respect the law

If Supreme Court can wait for CBFC why can't chief ministers bide their turn?

TOI Editorials

Those chief ministers, sundry politicians and caste/community outfits demanding a ban on Padmavati would do well to take their cue from Supreme Court, which has ruled that it does not intend to appropriate the powers of a statutory body like the Central Board of Film Certification (CBFC). Those who have lined up against Padmavati include four chief ministers – Vasundhara Raje, Shivraj Singh Chouhan, Yogi Adityanath and Amarinder Singh. It is possible to ignore fringe elements but not these formidable politicians who cannot even wait to see the film, or for the censor board's decision on it, before

pronouncing their verdicts.The Cinematograph Act stipulates that a film shall not be certified for public exhibition if it threatens security of the state, public order, decency and morality. These clauses give the CBFC its popular moniker "censor board". However, a host of other self-appointed censors have come forward as well, from government and civil society too. Despite Bollywood's role in national integration and in strengthening India's brand image internationally, such all-pervasive censorship has made the very project of making a film hazardous.

These chief ministers have clearly jumped the gun. To announce bans days in advance of a film reaching theatres, in anticipation of a possible law and order situation cropping up, is to create the very conditions for such a law and order situation. At this stage governments concerned must lodge FIRs against those issuing death threats against Sanjay Leela Bhansali and Deepika Padukone. By overreaching on bans that curtail artistic freedoms while treating provocateurs with kid gloves, the state's executive authority is undermined. Governance is inversely proportional to the power of non-state actors. Look no further than neighbouring Pakistan. Padmavati and its makers are entitled to due process of law. That must be a minimum guarantee, even for a maximum government.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 22-11-17

The future lies in brain-intensive, not labour-intensive, industries

By Swaminathan S Anklesaria Aiyar

The government's 'Make in India' drive is in trouble. It aims to increase the share of manufacturing from 16% of GDP to 25% by 2022, creating 100 million jobs. Alas, industrial growth has been weak in Modi's three years in office, the investment rate has fallen, formal employment growth has been miserable, and exports have stagnated.

What's gone wrong? I have long held that government attempts to boost this or that sector is a mistake. Far better is simply to improve the ease of doing business, remove constraints in all sectors, and then leave entrepreneurs to decide which area should soar, which should plod along, and which should close. In this approach, services will probably do better than manufacturing, and brain-intensive sectors better than labour-intensive ones. GoI needs to build on these strengths rather than hanker for labour-intensive areas whose time has gone.

Encroachment on Policy

The big picture is that India has lost competitiveness thanks to new policies that no party is keen to reverse. The recent land acquisition law has made land much more costly than in Asean competitors. Wages have shot up since 2008, thanks in part to MGNREGA.Creating an independent Monetary Policy Committee entrusted with a single-minded focus on inflation control is not going to bring down interest rates to Asean levels. Electricity for industry costs twice as much as in Asean, because high industrial tariffs are used to subsidise farm and domestic consumption.

In sum, many politically popular initiatives of recent years have raised the cost of all industrial inputs: land, labour, capital and electricity. No wonder industrial output and exports are struggling. Yet, no political party has an explicit plan to slash these costs. Now, Indian entrepreneurship and jugaad can overcome many cost hurdles.But in low-tech industries, value addition is so low that it's difficult to overcome cost hurdles. These can more easily be overcome where value addition is high, in hi-tech areas. They can also be more easily overcome in service industries, which require less land, electricity, water, capital investment or working capital than manufacturing.

This surely explains why India's service exports have risen so much faster than manufacturing exports, and why hi-tech exports like auto and pharma have done much better than textiles and leather. Hi-tech areas do not require political tricky steps to cut land and labour costs.Yet, many experts keep arguing that India is labour-abundant and capital-scarce, and so, must focus on labour-intensive sectors that have created millions of jobs and billions in exports for neighbouring Asian countries. One example is the chapter by C Veeramani and Garima Dhir, 'Make What in India?' in the latest India Development Report 2017.They show that hi-tech auto exports grew by an amazing 34% a year during 2000-15, while labour-intensive apparel export growth was only 9%. They find India is locked out of global value chains (GVCs), in which products are assembled from components produced in a wide variety of locations. Many Asian countries are part of GVCs, which culminate in the assembly in China.India is just not in the picture. How can it get in? By reducing its high input costs like land, labour capital and electricity. But will politics allow that?

Sci-Tech No Longer Sci-Fi

In another chapter in the report, 'Services for Indian Manufacturing', Rupa Chanda argues the case for emphasising more services embedded in manufacturing to improve competitiveness. This will include steps to slash India's speed and costs of logistics: transport, warehousing, rail-road links, paperwork.In another chapter, 'One Size Does Not Fit All', Sunil Mani argues the case for industrial policy, citing some successes and ignoring many failures. But his chapter is useful for emphasising the dynamism of hi-tech exports, which now include aircraft components and satellite launches.

Neither the report nor government experts are facing up to the threat of automation. Machines are being developed that can handle soft materials like cloth and leather. Once these machines are standardised, they will eliminate millions of jobs in apparel and leather goods. Should India make a huge, expensive effort to get into areas that had huge potential in the past but now face the risk of extinction?Robots will take over brain-intensive areas too. But not to the same extent as labour-intensive ones. Broadly, the future of the world — and of India — lies more in services than in manufacturing, and more in brain-intensive than labour-intensive areas.India is now a land of relatively expensive inputs like land, labour, capital and electricity. These cannot be offset by cheap manual labour, but can be by low-cost skills. This explains the runaway success of computer software and BPO, and of medical tourism. It explains the export success of autos and pharma.The challenge of robotisation cannot be met through labour-intensive techniques. It means raising productivity fast enough to overcome cost disadvantages in land, labour and capital. It means improving efficiency of every sort; slashing corruption and waste; vastly improving government services; hugely enhancing skills. It means developing a workforce that is agile and can shift from one task to another depending on how the winds of technical change blow. That's a big agenda.

दैनिक भास्कर

Date: 22-11-17

हम महिलाओं से इतना क्यों घबराते हैं?

नारी पर केंद्रित और उनके मुद्दे उठाने वाली तीन फिल्मों के प्रदर्शन को लेकर विवाद

प्रीतीश नंदी,वरिष्ठ पत्रकार और फिल्म निर्माता (ये लेखक के अपने विचार हैं)

पिछले हफ्ते सुर्खियां बनाने वाली तीनों फिल्में (दो भारतीय फिल्में गोवा के अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह से निकाल दी गईं, जबकि जूरी इन्हें प्रदर्शित करना चाहती थी और एक बड़ी व्यावसायिक फिल्म को रिलीज करने की तारीख आगे बढ़ानी पड़ी, जब फिल्म निर्देशक का सिर और प्रमुख अभिनेत्री की नाक काट डालने की धमकी दी गई) मजबूत महिला किरदारों पर केंद्रित हैं। इसके पहले कुख्यात निहलानी युग में जिन फिल्मों को सेन्सर बोर्ड ने रोका वे भी ऐसी ही फिल्में थीं। 'लिपस्टिक अंडर माय बुर्का' को इसी आधार पर मंजूरी नहीं दी गई कि 'यह महिला उन्मुख फिल्म है, जिसमें 'जीवन से परे जातीं उनकी फैंटसी हैं'। अब इसका जो भी मतलब हो।आश्चर्य है कि हम सेंसरशिप के ऐसे दौर में हैं, जिसमें फिल्मों पर सिर्फ उनकी राजनीति के कारण ही प्रतिबंध नहीं लगाया जाता। वैसी फिल्मों के तो बहुत उदाहरण हैं। शुरुआत 'किस्सा कुर्सी का' से हुई थी, जिसे इमरजेंसी के दौरान प्रतिबंधित करने के साथ उसका प्रिंट भी जला दिया गया था, क्योंकि फिल्म 'असंभव-सी और नैतिक रूप से गिराने वाली कहानी' कहती थी।

इसमें बताया गया था कि कैसे चुनाव के दौरान दो प्रतिद्वंद्वी दलों के प्रत्याशियों को तीसरे दल ने रिश्वत देकर नाम वापस लेने पर राजी कर अपने उम्मीदवार को मैदान में उतार दिया (मजे की बात है कि 40 साल बाद ठीक यही हर चुनाव में हो रहा है)।अब फिल्मकारों को महिलाओं और 'जीवन से परे जाती उनकी फैंटसी' के मुद्दे उठाने के लिए परेशान किया जा रहा है। हम कौन-सी फैंटसियों की बात कर रहे हैं? मलायम फिल्म सेक्सी दुर्गा का नाम बदलकर एस. दुर्गा करने पर भी फिल्म महोत्सव में इसका प्रदर्शन रोक दिया गया। यह एक आप्रवासी युवती दुर्गा की सरल-सी कहानी है, जो कबीर नाम के युवा के साथ रात को भाग जाना चाहती है। दो गुंडे उन्हें इस वादे के साथ अपनी कार में बिठा लेते हैं कि वे उन्हें नज़दीक के रेलवे स्टेशन पहुंचा देंगे। पूरी फिल्म देर रात सुनसान सड़क की उस खौफनाक कार यात्रा पर केंद्रित है, जिसमें वे लोग खतरनाक ढंग से लड़की को घूरते हैं और उन्हें कार से उतरने भी नहीं देते।

बीच में केरल के गांव के दृश्य बताए गए हैं, जिसमें एक उत्सव के दौरान दुर्गा के रौद्र रूप काली के भक्त खुद को लोहे के हुक और छड़ों से छेदते हैं ताकि वे पापों से मुक्त हो सकें। बिना पटकथा के एक ही रात में शूट की गई शशिधरन की फिल्म को उस घटना में गहरी अंतर्दृष्टि डालने के लिए सराहना मिली है, जिसका सामना प्रतिदिन हर महिला को करना पड़ता है- आंखों से घूरकर कर किया गया दुष्कर्म। कोई हिंसा नहीं दिखाई गई है फिल्म में है केवल खौफ, जो हर महिला रोज महसूस करती है।जिस दूसरी फिल्म को प्रदर्शन की अनुमति नहीं दी गई वह राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त निर्देशक रवि जाधव की मराठी फिल्म 'न्यूड' है, जिसका चयन फिल्मोत्सव में भारतीय पेनोरमा के शुभारंभ के लिए किया गया था। यह एक महिला के बारे में है, जो निर्धन है और कलाकारों के लिए मॉडल बनने का काम करती है ताकि आजीविका कमा सके। लेकिन, समाज ऐसे पेशे को जिस तरह देखता है उसके कारण वह बेटे को भी नहीं बता सकती कि वह क्या काम करती है। उसकी दृढ़ता, उसका साहस, ज़िंदगी को आंखों में आंखें डालकर देखने की योग्यता फिल्म को

इतना प्रभावशाली बनाती है कि आलोचकों ने इसे उस क्षेत्रीय फिल्म का शानदार उदाहरण माना है, जो रोज के जीवन से थीम उठाकर उसे नए धरातल पर ले जाता है।हां, दोनों फिल्मों ने महिलाओं और 'जीवन से परे जाती उनकी फैंटसी' पर एक ऐसे माध्यम में फोकस करने का साहस किया है, जहां परम्परागत रूप से पुरुष ही केंद्र में रहे हैं। दोनों ऐसी समस्याओं को लेती हैं, जिनका सामना महिलाएं हमारे समाज में करती हैं। शायद इसी ने हर किसी को विचलित कर दिया है- यह असली महिला की आवाज है। यह ऐसी महिला नहीं जिसे आमतौर पर हम हमारी फिल्मों में देखते हैं। यह वास्तविकता, सच की आवाज है। हम जानते हैं कि राजनीति में भी इसके लिए कोई जगह नहीं है। यह रवैया सपने बेचने के व्यवसाय में ही मौजूद है।

अब तीसरी फिल्म की बात करें, वह जिसने सबसे ज्यादा सुर्खिया बटोरीं : संजय लीला भंसाली की 'पद्मावती', जो आठ दिन बाद रिलीज होनी थी पर होगी नहीं। इस बार तो हमें सेंसर बोर्ड की राय भी नहीं मालूम, क्योंकि सेंसर बोर्ड के लिए इसका प्रदर्शन भी नहीं हुआ है। सेंसर के लिए प्रदर्शन इस आधार पर रोक दिया गया कि जमा किया गया फार्म अधूरा है। निर्माताओं ने भी लगता है बताया नहीं है कि फिल्म इतिहास पर आधारित है या कल्पना पर। मैं उनकी दुविधा समझ सकता हूं। यदि आप रामायण पर फिल्म बनाएं तो आप इसे इतिहास, कल्पना की रचना या पौराणिक क्या घोषित करेंगे?

हमारी कई महान कथाओं की तरह इसमें हमेशा कुछ इतिहास, कुछ कल्पना, कुछ मिथक होगा। यह युद्ध पर आधारित उन फिल्मों के लिए भी सच है, जिन्हें हॉलीवुड बनाता है। क्या 'ब्लैक हॉक डाउन' इतिहास है? क्या कैथरीन बिगेलो की 'द हर्ट लॉकर' उन घटनाओं को सौ फीसदी बताती हैं, जिनकी परिणति ओसामा की हत्या में हुई?कोई फिल्म ऐसी नहीं होती। खबरों से जो छूट जाता है उसे पकड़कर सिनेमा हमेशा ही वास्तविकता के परे चले जाता है। इसीलिए तो हम फिल्म देखने जाते हैं। वे हमें वे सत्य बताते हैं, जो अखबार व टीवी चैनल तत्काल रिपोर्टिंग की तलाश में चूक जाते हैं। मैं भंसाली का प्रशंसक नहीं हूं।

उनकी फिल्में तो मेरे सिर से ऊपर जाती हैं। देवदास एक अच्छी कहानी को परदे पर बर्बाद करने का उदाहरण है, क्योंकि उन्होंने इसमें जरूरत से ज्यादा नाटकीयता व ग्लैमर से भर दिया था। हां, मुझे बताया गया है कि वे ईमानदार फिल्म निर्माता हैं (सेंसर बोर्ड के नए प्रमुख भी यह मानते हैं)। सारे ईमानदार फिल्म निर्माताओं की तरह उन्हें भी अपने दृष्टि का अधिकार है, फिर चाहे उसमें गलतियां ही क्यों न हो। किसी भी स्वतंत्र समाज में फिल्म निर्माताओं को आतंकित हुए बिना अपनी बात अपने तरीके से कहने की आज़ादी होनी चाहिए। मुट्ठीभर लोगों के कारण भारत का तालिबानीकरण नहीं होना चाहिए।इस बकवास को बंद करने का यही सही वक्त है। मुझे विश्वास है कि मोदी सरकार यह करेगी फिर चाहे भाजपा के कुछ बड़े नेता (कुछ कांग्रेस मुख्यमंत्री) नए तालिबान के पक्ष में बोलने वालों का बचाव करके सरकार को शर्मिंदा करने का प्रयास कर रहे हैं।

दुनिया के मंच पर प्रभावशाली देशों को टक्कर देता भारत

सुषमा स्वराज ने भी वंदे मातरम् का घोष करते हुए इसे देश की विजय बताया है।

संपादकीय

अंतरराष्ट्रीय न्यायालय (आईसीजे) में न्यायमूर्ति दलबीर भंडारी के दोबारा चुने जाने से यह साबित हो गया है कि दुनिया के मंच पर भारत की राजनयिक पकड़ अमीर और ताकतवर देशों को टक्कर दे रही है। यही कारण है कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने इसे भारत के लिए गौरव का क्षण बताते हुए विदेश मंत्री सुषमा स्वराज के प्रयासों की सराहना के साथ उन्हें बधाई दी है। सुषमा स्वराज ने भी वंदे मातरम् का घोष करते हुए इसे देश की विजय बताया है।इसे ब्रिटेन जैसे ताकतवर देश पर भारत जैसे उभरते देश की विजय के रूप में देखा जाना चाहिए, क्योंकि न्यायमूर्ति भंडारी के चयन का मामला उनके और ब्रिटेन के उम्मीदवार न्यायमूर्ति क्रिस्टोफर ग्रीनवुड के बीच ही नहीं संयुक्त राष्ट्र महासभा और सुरक्षा परिषद के मध्य टकराव के रूप में उपस्थित हो गया था।सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य इजरायल और पाकिस्तान के मामले में प्रतिबंधों के सवाल पर अपने वीटो का प्रयोग करते रहते हैं और उससे विश्व के लोकतांत्रीकरण में या आतंकवाद और अपराध को काबू करने में बाधा पैदा होती है। उसका भुक्तभोगी फिलिस्तीन और अरब देशों के साथ भारत भी रहा है। संभवतः यह अहसास सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों को हो गया और उन्होंने कम से कम अंतरराष्ट्रीय न्यायालय के लिए ऐसी कटुता टालते हुए ब्रिटेन की उम्मीदवारी को वापस ले लिया।

भारत के सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायमूर्ति दलबीर भंडारी महासभा में लगातार जीत रहे थे और उनकी यह जीत ग्यारह बार तक होती रही। जबकि ब्रिटेन के जज क्रिस्टोफर ग्रीनवुड सुरक्षा परिषद में भारी पड़ रहे थे लेकिन, महासभा में हार रहे थे।आमतौर पर महासभा में जिस उम्मीदवार को बहुमत मिलता है उसे ही चुना जाता था लेकिन, इस बार दोनों सदनों के अलग-अलग मत आने के कारण हारते ब्रिटेन ने तो एक बार संयुक्त अधिवेशन कराने की भी तैयारी शुरू कर दी थी।इस जीत की खुशी के बावजूद यथार्थ यही है कि आईसीजे के फैसले बाध्यकारी नहीं हैं। उनके फैसलों को लागू करना संप्रभु देशों की इच्छा पर ही निर्भर करता है।दरअसल, अंतरराष्ट्रीय कानून और लोकतंत्र के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सुरक्षा परिषद ही है। पूरे मामले में एक सीख भी है कि सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यता के मौजूदा ढांचे में बदलाव बेहद जरूरी है। वह बदलाव उसमें भारत को शामिल करने या स्थायी सदस्यता की व्यवस्था को समाप्त करने से ही संभव होगा।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 22-11-17

युवा आबादी को नाकाम करती स्वास्थ्य एवं शिक्षा प्रणाली

मिहिर शर्मा

भारत अपनी युवा आबादी को नाकाम बना रहा है। युवाओं को रोजगार और आगे बढऩे के मौके नहीं मिल पा रहे हैं। उन्हें अपनी किस्मत खुद संवारने के लिए जरूरी सुविधाएं भी मुहैया नहीं हो पा रही हैं। हमने इन युवाओं को एक जहरीला पर्यावरण दिया है, उन पर बोझ डालने वाली स्वास्थ्य देखभाल व्यवस्था दी है और एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था दी है जो या तो महंगी या निष्प्रभावी है। इन सबके बाद हम उन्हें बाहर निकलने और दुनिया में परचम लहराने वाले उद्यमी या प्रभावी औद्योगिक श्रमशक्ति बनने को कहते हैं। क्या हम खुद से ही मजाक नहीं कर रहे हैं?हरेक साल सर्दियों में दिल्ली की आबोहवा तीन महीनों तक सांस लेने के लिए दूभर हो जाती है। जब मैंने इस शहर का रुख किया था तो सर्दियों का लोग बेसब्री से इंतजार करते थे। उन जादुई महीनों में यह शहर सेरेंगेटी के कीचड़ भरे मैदानों या सहारा के रेतीले टीलों जैसा न होकर रहने लायक स्थान तो हो ही जाता था। लेकिन दुनिया की सबसे खराब हवा के साथ अब हमने दिल्ली की सर्दी को भी बरबाद करने का फैसला कर लिया है। डॉक्टरों का कहना है कि दिल्ली में पल-बढ़ रहे बच्चों के फेफड़ों को स्थायी नुकसान होने का खतरा है।

पिछले साल प्रकाशित अपने एक लेख में मैंने कहा था कि अच्छी हवा जैसे बाह्य तत्वों को अर्थशास्त्री अपने लेखा-जोखा में शामिल नहीं करते हैं। अगर विकास-केंद्रित अर्थव्यवस्थाएं हवा में फैले प्रदूषण को नजरअंदाज करती हैं तो फिर हमें सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में वृद्धि को केंद्र में रखने वाली अपनी नीति बदलने की जरूरत है। लेख के मुताबिक, फसलों के अवशिष्ट जलाने जैसी समस्या को दूर करने में आने वाली लागत को साफ तौर पर देखा जा सकता है और उससे आर्थिक 'सक्षमता' और जीडीपी में भी कमी आएगी। हवा में प्रदूषण फैलाने वाली वजहों को दूर करने से होने वाले लाभों को चिह्नित कर पाना आसान नहीं है और जीडीपी में प्रत्यक्ष तौर पर उसके असर नजर नहीं भी आ सकते हैं।यह तर्क अब भी समीचीन है। समूचा उत्तरी भारत एक बार फिर घने काले धुएं की चादर से ढक चुका है बल्कि बुनियादी सामाजिक ढांचे के प्रति हमारा रवैया राष्ट्रीय आय की गणना में इन पहलुओं को सीधे तौर पर शामिल न करने की प्रवृत्ति को नजरअंदाज करता है। अमेरिका के लोग फ्रांसीसी लोगों की तुलना में देर तक और कम उत्पादकता के साथ काम करते हैं। एक प्रासंगिक बिंदु यह है कि अमेरिकी लोग ब्रिटिश लोगों की तुलना में स्वास्थ्य देखभाल पर अधिक खर्च करते हैं। खर्च बढऩे से जीडीपी में अतिरिक्त योगदान होता है। ब्रिटेन में यह राष्ट्रीय आय का दसवां और अमेरिका में पांचवां हिस्सा है। इसके बावजूद एक अमेरिकी को ब्रिटिश नागरिक की तुलना में कमतर स्वास्थ्य सुविधा मिलती है। स्वास्थ्य देखभाल पर कम खर्च करने के बावजूद ब्रिटेन में जीवन प्रत्याशा अमेरिका के कुछ शीर्ष राज्यों के बराबर है। यह अमेरिका में स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली के काफी हद तक निजी क्षेत्र द्वारा संचालित होने का असर है। अमेरिकी स्वास्थ्य प्रणाली महंगी होने के साथ ही इसमें गैरजरूरी महंगे उपचारों को भी शामिल किया जाता है। ब्रिटेन की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के तहत कम लागत पर ही कोई स्वास्थ्य उत्पाद मिल जाता है। इसका मतलब है कि अगर ब्रिटेन आने वाले समय में अमेरिकी शैली वाली निजी क्षेत्र आधारित स्वास्थ्य प्रणाली लागू करने का फैसला करता है तो उसकी जीडीपी में जबरदस्त उछाल आ जाएगी। लेकिन उसके स्वास्थ्य नतीजे और जीवन स्तर में गिरावट आ जाएगी।

भारत सार्वजनिक धन खर्च किए बगैर जीडीपी वृद्धि की तलाश में लगा हुआ है लेकिन वह अपनी मौजूदा स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली में जरूरी सुधार किए बिना ही इसका विस्तार करने की कोशिश कर सकता है। सबको एकसमान स्वास्थ्य सेवा देने का वादा कर सत्ता में आई सरकार के भीतर सोच यही है कि स्वास्थ्य ढांचा मुहैया कराने में निजी प्रावधान के साथ सब्सिडी-आधारित जटिल बीमा प्रणाली से ही बात बनेगी। भारतीय कामगारों के लिहाज से यह किसी आपदा जैसी स्थिति होगी लेकिन आर्थिक आंकड़ों एवं जीडीपी विकास के संदर्भ में यह बढिय़ा दिख सकता है। (और इससे राजनीतिक संपर्क रखने वाले लोगों द्वारा बड़े पैमाने पर संचालित निजी अस्पतालों को फायदा होगा।) सरकार युवा भारतीयों की मानवीय पूंजी की कीमत पर अपनी भौतिक पूंजी की बचत कर पाएगी।

शिक्षा के मामले में भी इसी तरह का रवैया अपनाया जा रहा है। कम लागत वाली सार्वभौम एवं सर्वसुलभ शिक्षा मुहैया कराने के बजाय भारत खराब प्रदर्शन कर रहे सार्वजनिक स्कूलों और महंगे एवं असरहीन रूप से नियंत्रित निजी स्कूलों के भरोसे ही चल रहा है। बेहतर नतीजे देने वाले सार्वजनिक स्कूलों की जगह कोई भी नहीं ले सकता है। लेकिन यहां पर भी अक्षमता राजनीतिक मकसद के माकूल बैठती है और उससे जीडीपी में बढ़ोतरी ही होती है क्योंकि अभिभावक महंगे निजी स्कूलों के चंगुल में फंसने को मजबूर हैं। सरकार ने राजकोषीय जवाबदेही के संदर्भ में वाकई में बड़ा काम किया है। इसने भौतिक ढांचा खड़ा करने पर खर्च किया है लेकिन अगर इसने नियामकीय एवं कानूनी ढांचे पर अधिक जोर दिया होता तो निजी क्षेत्र से वह खर्च कराया जा सकता था। लेकिन सरकार ने मानवीय ढांचा और मानवीय पूंजी पर अधिक मानसिक ऊर्जा और धन नहीं लगाया है। अगर सरकार वाकई राजकोषीय उड़ान पथ के प्रति अपनी प्रतिबद्धता शिथिल करती है तो वह जीडीपी में गिरावट की भरपाई के लिए भौतिक ढांचे पर अधिक खर्च की दिशा में आगे बढऩे के लिए प्रेरित हो सकती है। लेकिन ऐसा करने से हम युवा भारतीयों को लगातार नाकाम करते रहेंगे। इसके बजाय सरकार को अब शिक्षा, कौशल-विकास, स्वास्थ्य देखभाल और पर्यावरण जैसे मुद्दों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। स्वस्थ और सुशिक्षित युवा ही अपने लिए उस भविष्य का निर्माण कर सकते हैं जो उनकी सरकार दे पाने में नाकाम साबित हो रही है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 21-11-17

स्थिरता के लिए है जरूरी चार देशों का साथ आना

डब्ल्यू पी एस सिद्धू प्रोफेसर, न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी

सही है कि एशिया-प्रशांत क्षेत्र में शांति व स्थिरता कायम करने का यह एक महत्वपूर्ण प्रयास है, पर इसकी मजबूती के लिए कम से कम दो और काम किए जाने चाहिए। ईस्ट-एशिया समिट इसे राजनीतिक मजबूती दे सकती है, तो एपेक कारोबारी व आर्थिक मजबूती के लिए जरूरी है। क्वाड के सभी सदस्य देश ईस्ट-इंडिया समिट में शामिल हैं, लेकिन भारत अब भी एपेक का सदस्य नहीं है। लिहाजा नई दिल्ली को एशिया-प्रशांत के इन तीनों स्तंभ का हिस्सा बनना होगा। सभी देशों को यह समझना होगा कि शांति कायम करने के लिए कभी-कभी एक लोकतांत्रिक सैन्य गठबंधन की जरूरत होती है। नाटो ने यह साबित भी किया है। इसके लिए भारत को सैन्य गठबंधन और सहयोग से परहेज की अपनी पुरानी और पारंपरिक समझ को त्यागना होगा।इंडो-पैसिफिक' शब्द का इस्तेमाल समुद्री जीवविज्ञानी उष्णकटिबंधीय हिंद महासागर से लेकर पश्चिम व मध्य प्रशांत महासागर तक पसरे पानी के विस्तार को परिभाषित करने के लिए करते रहे हैं। मगर 21वीं सदी की शुरुआत में इस शब्द को भू-राजनीतिक शब्दावली में जगह मिली और यहां यह अपनी वैज्ञानिक परिभाषा से कहीं अधिक विवादास्पद साबित हुआ। यह क्षेत्र 20वीं सदी में विभिन्न देशों और एक ही मुल्क के अलग-अलग

राज्यों के बीच खूनी संघर्षों का गवाह तो बना ही, विफल, संभावित और स्थापित परमाणु शक्ति संपन्न **देशों** के बीच निकट भविष्य में तनाव के बीज भी यहां खूब दिखते हैं। एक मजबूत सुरक्षा व्यवस्था के न होने से यहां ऐसे तनाव की आशंका ज्यादा है। इस लिहाज से चतुष्कोणीय सुरक्षा वार्ता (क्वाड) को फिर से जीवंत करने की कोशिशों को देखें, तो यह एक उल्लेखनीय कदम है। ऑस्ट्रेलिया, भारत, जापान और अमेरिका के बीच यह बातचीत मनीला में आसियान और ईस्ट-एशिया समिट के इतर हुई है।

क्वाड को फिर से जिंदा करने की कई वजहें **हैं।** चीन के साथ हुए डोका-ला विवाद और बाद में 'बेल्ट रोड इनेशिएटिव' ने भारत को इसके लिए प्रोत्साहित किया, तो ऑस्ट्रेलिया और कुछ हद तक जापान के लिए ऐसा करने की बड़ी वजह द्विपक्षीय गठबंधन के प्रति डोनाल्ड ट्रंप सरकार की प्रतिबद्धता और '**क्वाड**' के वायदों के तहत उन्हें मजबूत बनाने की मंशा है। अमेरिकी विदेश मंत्री रेक्स टिलरसन की यात्रा से भी यही लगता है कि **वाशिंगटन** की मंशा इस क्षेत्र में अधिक से अधिक संबंध मजबूत करने की है। रही बात अमेरिका की, तो क्वाड उसे इस क्षेत्र में चीन के दबाव से उबरने का मौका दे सकता है। यह नाटो की तरह का संगठन हो सकता है, जिसे 'रूस को बाहर रखने, अमेरिका को शामिल करने और जर्मनी का कद छोटा करने में' सफलता मिली थी। इसी कारण कई पर्यवेक्षकों ने इस नए संगठन को चीन को घेरने के एक औजार के रूप में परिभाषित किया है। हालांकि एक **प्रभावशाली** संगठन बनने के लिए इसे नाटो के नक्शेकदम पर भी चलना चाहिए, यानी उसे 'चीन को बाहर रखना होगा, अमेरिका को **शामिल** करना होगा और जापान को कम महत्व देना होगा'। यह भी सुनिश्चित करना होगा कि इस क्षेत्र को लेकर वाशिंगटन की **प्रतिबद्धता** महज कहने भर की न रह जाए, बल्कि वह इसके लिए गंभीर भी बने।

डोनाल्ड ट्रंप की विघटनकारी व अलगाववादी **प्रवृत्ति** को देखते हुए (जो ईस्ट एशिया समिट में उनके न **शामिल** होने से जाहिर भी होता है) क्वाड की यह भूमिका काफी महत्वपूर्ण मानी जाएगी। इसी तरह, दूसरे विश्व युद्ध में दिखे जापान के बर्बर अतीत के मद्देनजर क्वाड में टोक्यो की भूमिका भी मामूली रखनी होगी, और इसमें किसी भी संशोधनवादी कदम को **पर्याप्त** जांचा-परखा जाएगा। हालांकि आशंका यह भी है कि कुछ आंतरिक **मतभेदों** के कारण शायद क्वाड अपनी क्षमता के अनुसार काम न कर सके। मसलन, भारत 'नेविगेशन की स्वतंत्रता' की वकालत तो करता है, पर विशेषकर दक्षिण चीन सागर में नौकायन युद्धपोतों के मामले में ऐसा करने को अनिच्छुक दिखता है। इसी तरह, 2015 की भारतीय समुद्री सुरक्षा रणनीति यह एहतियात बरतती दिखती है कि 'जो राष्ट्र (इसे अमेरिका समझें) परंपरागत मित्र हैं', उनके साथ सुरक्षा को लेकर अलग-अलग धारणाएं हो सकती हैं। क्वाड के सदस्य राष्ट्रों को ऐसे मतभेदों से पार पाना होगा।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 21-11-17

Farm policies for India

Union government must address structural issues in agricultural policy, allow states greater autonomy.

Ajay Vir Jakhar, the writer is chairman, Bharat Krishak Samaj

Farmers from across the country are out on Delhi's streets agitating just as the deliberations for the 2018 budget are beginning and it's time to seek solutions to the structural issues that plague the system.The "one-size-fits-all" policy created for the farm sector is self-destructive in design and programmes meant to double farmer incomes are collapsing. The Pradhan Mantri Fasal Bima Yojna (PMFBY) is a classic case where the best intentions of the prime minister were muddled in the policy's fine-print. The PMFBY is designed to provide crop insurance and the Central government shares part of the premium subject to conditions. To receive the Central government's share, the state has to walk the dotted line, come hell or high water; whether the region is rain-fed or irrigated; whether the cropping density is less than 100 per cent or upwards of 200 per cent. Simply allowing each state to design its own crop insurance scheme and yet receiving the Central government share of the premium would yield the desired results.

Similarly, an incentive of Rs 75 lakh per mandi is given by the Centre to the states for linking each market with E-NAM, the electronic platform for trading commodities. Much of the recorded turnover is, in fact, a sham. States like Haryana log in all FCI purchases as E-NAM transactions. Rather than force E-NAM on states, incentivising each state to have the electronic platform which meets the basic criteria of interoperability with other states is the correct path.Recently, worried by the way the Regional Economic Comprehensive partnership (RCEP) for trade within Asia was shaping up, I advocated that the Central government shouldn't negotiate international trade treaties on agriculture commodities without the consent (which differs from "consultation") of state governments. I was told that as per the Constitution of India, trade negotiations are under the purview of the Centre, even though agriculture is in the domain of the states.

That is precisely the reason that every time food prices rise, the Centre intervenes to rein in inflation by facilitating the unhindered import of agricultural commodities. This constantly drives down farm-gate prices. But when prices fall, the Central government remains apathetic.To offset these annual losses, states should demand that the Centre set a floor price for all such farm produce, where only the Central government shells out the shortfall between the market price and floor price via a "Price Deficiency Payment". At present, farmers and states are penalised for the fallout of a policy not sanctioned by them and have to share the cost. Additionally, to prepare Indian farmers for global assimilation, funding for programmes such as the Rashtriya Krishi Vikas Yojna and the sub-mission on agriculture mechanisation should be doubled and the funding ratio should be changed from 60:40 to 80:20, where the Central government's contribution rises to 80 per cent.

When different states announced farm loan waivers, banks were asked to provide farm loan data. Scrutiny of the data revealed the horrifying fact that public and private sector banks have indiscriminately given loans of over Rs one lakh crore to gullible farmers based on their asset value rather than economic viability. In the frantic quest to meet their own priority-sector lending targets, they have given these loans beyond the farmers' scale of finance or actual value of crop sold each year by individual farmers. The culpability of banks has been established by the RBI through an in-house study conducted by the Financial Inclusion and Development Department — there was no way the loans could have been repaid. Now, that the malafide intent of the banks in giving loans to desperate farmers has been established, it's time to institute a class action lawsuit for the complete waiver of all such farm loans. The question is: Which jurist will have the courage to accept such an audacious case and what will be the

stand of the ministry of finance? Will it side with the poor farmers or with the banks which are too big to fail?For farmers to prosper, hundreds of changes are required but, more importantly, a devaluation of the Indian rupee is essential. Even how funds devolve to the states in a federal structure has to be looked at afresh by the 15th Finance Commission but states are either innocent of the emergent contradictions or too financially dependent and meek to challenge these notionsNot that fund utilisation is much better in the states, where policy is influenced by the whims of individual short-sighted policy-makers. Each state needs to be nudged and funded to create a data bank and adopt a blockchain process for government decision-making. Big data analytics will usher in improved governance and transparency.

In the recently concluded "World Food Day" extravaganza of the food processing ministry, investments for over Rs one lakh crore were signed. The only lasting impression, however, was the Guinness World Record for cooking 918 kg of khichdi at the event; probably because no intelligent soul was convinced by the propaganda. Sadly, the "mega food park" policy, like the "farm policy", has been botched. The PMO can't be naïve enough to believe in either. It's time to end the policy khichdi by merging the ministry of food processing with the ministry of agriculture and farmer welfare to create synergy.The age-old perception of farmers that the BJP works only for the urban middle classes is being reinforced. The PM must either listen to the farmers or it's beyond doubt that, come 2019, the policy anomalies will drive the farmers into a fury that will engulf the establishment. For how long can the leadership continue to hope for support grounded on farmers' expectations of off-farm jobs and achhe din?